

## प्रस्ताविका

‘वामा शिक्षक’ शीर्षक उपन्यास की रचना १८७२ ई. में मुंशी ईश्वरीप्रसाद और कल्याण राय ने मिलकर की। इसका प्रकाशन १८८३ ई. में विद्यादर्पण छापखाना, मेरठ से हुआ। इस उपन्यास के मुखपृष्ठ पर लिखा है - “वामा शिक्षक - अर्थात् दो भाई और चार बहनों की कहानी। मुंशी ईश्वरी प्रसाद मुदर्रिस रियाजी और मुंशील कल्याण राय मुदर्रिस अब्बल उर्दू मदरसेदस्तूर तालीम मेरठ जाति काईस्तक्षत्रिवर्ण ने सन् १८७२ ई. में बनाई और खाक पाय कल्याण राय ने छापेखाने विद्यादर्पण मेरठ में छपवाई, सन् १८८३ ई. में पहली बार ५०० पुस्तक और नौछावर प्रति पुस्तक दस आने”

सन् 1868 ई. में तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध की सरकार ने विद्यालयों के लिए शिक्षोपयोगी पुस्तकों के लेखन अथवा संस्कृत, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं से अनुवाद हेतु एक सौ रुपए से लेकर पाँच सौ रुपए तक के पुरस्कार की घोषणा की थी। इस से प्रेरित होकर हिन्दी तथा उर्दू में नीति शिक्षापरक अनेक कहानी-पुस्तकों की रचना हुई। सन् 1869 में डिप्टी नज़ीर अहमद ने ‘मिरातुल उरूस’ शीर्षक उर्दू पुस्तक रची, जिसकी भूमिका में उन्होंने लिखा - “गरज़ ये कि कुल खानदारी की दुरुस्ती अक़ल पर है और अक़ल की दुरुस्ती इल्म पर मौकूफ़ है।” इस पुस्तक को मुस्लिम लड़कियों को शिक्षित करने के उद्देश्य से लिखा गया, जिस पर सरकार की ओर से एक हज़ार रुपए का पुरस्कार भी उन्हें प्राप्त हुआ। मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय ने २२४ पृष्ठों का (लीथो मुद्रण) वामा शिक्षक उपन्यास ‘मिरातुल उरूस’ की प्रेरणा से लिखा। भूमिका में ईश्वरी प्रसाद और कल्याण राय ने लिखा कि “इन दिनों मुसलमानों की लड़कियों के पढ़ने के लिए तो एक-दो पुस्तकें जैसे मिरातुल उरूस आदि बन गई हैं परन्तु हिन्दुओं व आर्यों की लड़कियों के लिए अब तक कोई ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आई जिस्से उनको जैसा चाहिए वैसा लाभ पहुँचे और पश्चिम देशाधिकारी श्रीमन्महाराजाधिराज लेफ्टिनेंट गवर्नर बहादुर की यह इच्छा है कि कोई पुस्तक ऐसी बनाई जाए कि उससे हिन्दुओं व आर्यों की लड़कियों को भी लाभ पहुँचे और उनकी शासना भी भली-भाँति हो। सो हम ईश्वरी प्रसाद मुदर्रिस रियाजी और कल्याण राय मुदर्रिस अब्बल उर्दू मदरसह दस्तूर तालीम मेरठ ने बड़े सोच विचार और ज्ञान ध्यान के पीछे दो वर्ष में इस पुस्तक को उसी ध्यान से बनाई - निश्चय है कि इस पुस्तक से हिन्दुओं की लड़कियों को हिन्दुओं की रीति-भाँति के अनुसार लाभ पहुँचे और सुशील हों और जितनी (बुरी) चालें और पाखंड जिनका आजकल मूर्खता के कारण प्रचार हो रहा है उनके जी से दूर हो जाएँगे और बुरी प्रवृत्तियों को छोड़कर अच्छी प्रवृत्तियाँ सीखेंगी और लिखने पढ़ने और गुण सीखने की रुचि होगी, क्योंकि प्रत्येक बुराई का दृष्टांत ऐसी रीति से लिखा गया है कि उसके पढ़ने और सुत्रे से उनके स्वभावों और उनकी मूर्खताओं के स्वभावों में साहस उत्पन्न होगा और जब साहस उत्पन्न हुआ तो छोड़ देना और छुड़ा देना उस बुराई का कुछ बात नहीं है और यों ही प्रत्येक भलाई के बहुत से दृष्टांत लिखे गए हैं कि वह भलाई की ओर रुचि दिलाते हैं ....।” (वामाशिक्षक, भूमिका)

भूमिका में ही उपन्यास लेखन का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया गया है। इसका प्रेरणा स्रोत डिप्टी नज़ीर अहमद की पुस्तक ‘मिरातुल उरूस’ है, जिसे एक हज़ार रुपए का सरकारी पुरस्कार मिला था। ‘वामा शिक्षक’ को कोई पुरस्कार मिला या नहीं, यह ज्ञात नहीं है, साथ ही ‘वामाशिक्षक’ को डॉयरेक्टर ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन ने ‘नोटिस’ में लिया या नहीं - इसका पता भी नहीं चलता। लेकिन इतना तय है कि पूर्ववर्ती उपन्यास ‘देवरानी जेठानी की कहानी’ और ‘मिरातुल उरूस’ ने लेखकद्वय को ‘वामाशिक्षक’

की रचना-प्रेरणा दी। पं.गौरीदत्त ने देवरानी जेठानी की कहानी में आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया था और वह पुस्तक बड़ी लोकप्रिय हुई थी। 'वामाशिक्षक' में भी लेखकद्वय ने इससे प्रेरणा ग्रहण कर लिखा - "निदान उसको ऐसी सीधी बोली में लिखा है कि जिस्को हिन्दुओं की लड़कियाँ बेरोक समझ सकती हैं और उनकी प्रतिदिन की बोलचाल ऐसी होती है, जैसी इस पुस्तक में है ...."

'वामाशिक्षक' की रचना आर्यों की लड़कियों को सामाजिक अंधविश्वासों, रूढ़िग्रस्तता और अशिक्षा से बचाने के लिए की गई थी। इसके कथानक में स्वाभाविकता और विश्वसनीयता है। भारतीय साहित्येतिहास के समाजशास्त्रीय अध्ययन के बीज हमें इस उपन्यास में मिलते हैं। तत्कालीन समाज की अनेक कुप्रथाओं जैसे बालविवाह, आडंबर, अशिक्षा आदि के यथार्थ चित्रण इसे पठनीय बनाते हैं। भारतीय समाज में अशिक्षा को स्त्री की दुर्दशा के कारणों के मूल में पहचाना जाना 'वामाशिक्षक' की उपलब्धि है। हालाँकि उपन्यास में स्त्री-पुरुष समानता की बात कहीं नहीं कही गई है लेकिन स्त्रियों का शिक्षित होना और अज्ञान से ज्ञान तक बढ़ना 'पितृसत्तात्मक' समाज व्यवस्था में पुरुषवादी वर्चस्व को कमजोर करने के लिए उठाए गए कदम के रूप में देखा जाना चाहिए। उन्नीसवीं सदी के समाज-सुधारकों ने 'स्त्री समानता' का प्रश्न भी नहीं उठाया था। वे इस बात से परिचित थे कि स्त्री शिक्षा के बिना 'स्त्री समानता' की बात कहना व्यर्थ है। 'स्त्री शिक्षा' वस्तुतः स्त्री के विकास की धुरी है, स्त्री की 'पहचान' एवं 'आत्मनिर्भर छवि' भी स्त्री-शिक्षा के बिना संभव नहीं थी। तत्कालीन साहित्यकारों के प्रयास भले ही आज के परिप्रेक्ष्य में अनगढ़ दिखाई पड़ें, किन्तु, आज के भारतीय स्त्री विमर्श और समतामूलक समाज की स्थापना में, अतिआरंभिक उपन्यासों ने पाठकीय रुचि के परिवर्तन के साथ-साथ स्त्री की स्वावलंबनकारी चेतना के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारत में १९२० तक स्त्री शिक्षा की दशा शोचनीय थी। सन् १८८५ में उत्तर पश्चिमी राज्यों और अवध की ९२ प्रतिशत आबादी अशिक्षित थी। मात्र ३५० लड़कियाँ शिक्षित थीं। रामनारायण मिश्र ने लिखा है कि १९११ में ३०२३ प्राइमरी स्कूल लड़कों के मिडिल स्कूल ३७३ थे, जबकि लड़कियों के लिए केवल ८ मिडिल स्कूल थे। इन आँकड़ों से औपनिवेशिक शासन के प्रारंभिक दौर में स्त्री शिक्षा का अंदाजा हमें हो जाता है।

'वामा शिक्षक' में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिन्दी भाषी समाज का यथार्थ चित्रण है जिसमें नवजागरण और स्त्री चेतना के अक्स देखे जा सकते हैं। इसकी कथा में एक विशेष प्रकार की आंतरिक सूत्रबद्धता, स्वाभाविकता और विश्वसनीयता है और कथा का आयाम विस्तृत भी हैं प्राक्-प्रेमचंदयुगीन उपन्यासों में इसका महत्त्व अक्षुण्ण है। इस संदर्भ में कुछ प्रारंभिक उपन्यासों पर दृष्टि डालना समीचीन होगा।

हिन्दी का पहला उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' (पं.गौरीदत्त) का प्रकाशन सन् १८७० ई में हुआ। पं.गौरीदत्त ने इसे उपन्यास की संज्ञा न देकर लिखा "मैंने इस कहानी को नए रंग-ढंग से लिखा है।"

हिन्दी के पहले मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' का प्रकाशन सन् १८८२ ई. में हुआ। लाला श्रीनिवासदास ने इसे 'संसारी वार्ता' कहा। अंग्रेज़ी नॉवल शैली का समावेश पहली बार 'परीक्षा गुरु' में किया गया। इसीलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे 'हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास' माना। पं.गौरीदत्त और लाला श्रीनिवासदास के लेखन में लगभग बारह वर्ष का अंतराल है। हिन्दी नवजागरण के प्रसंग में 'परीक्षागुरु' पर विचार करते हुए वीरभारत तलवार ने लिखा - "इससे (परीक्षागुरु) पहले प्रकाशित दो और उपन्यास मिलते हैं - पहला गौरीदत्त का 'देवरानी जेठानी की कहानी' और दूसरा श्रद्धाराम फिल्लौरी

का 'भाग्यवती'। इन तीनों में कथा का तत्त्व - किस्सागोई सबसे ज्यादा 'भाग्यवती' में है इसलिए वह पढ़ने में सबसे रोचक है। वीरभारत तलवार ने हिन्दी के अतिआरंभिक उपन्यास तीन ही माने। जबकि हिन्दी उपन्यास कोश खण्ड-एक में डॉ.गोपाल राय ने हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास में १८७० का वर्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानते हुए 'मौलिक कथा साहित्य' शीर्षक के अंतर्गत 'देवरानी जेठानी की कहानी' को पहली मौलिक गद्य कथा माना और लिखा - "देवरानी जेठानी की कहानी की रचना उपन्यास के रूप में नहीं, बल्कि बालिकाओं के लिए उपयोगी पाठ्य पुस्तक के रूप में हुई थी। अब तक हिन्दी क्षेत्र का मध्यवर्गीय पाठक इतना सक्षम नहीं हो पाया था, न ही हिन्दी का लेखक इतना सक्षम और सजग था कि अंगरेज़ी और बँगला से प्रेरणा ग्रहण कर उपन्यास की रचना करता। सरकारी सहायता से 'देवरानी जेठानी की कहानी' का लेखन और मुद्रण हुआ। बाद में इसी तरह की दो और पुस्तकें 'वामा शिक्षक' (१८७२) और 'भाग्यवती' (१८७७) लिखी गईं। इनका मकसद था स्त्री शिक्षा का विकास और आदर्श स्त्री-चरित्र की प्रस्तुति।" (हिन्दी उपन्यास का इतिहास - गोपाल राय, पृ.21)

भारतेन्दु युगीन गद्य साहित्य के शोधकर्ता डॉ.रामनिरंजन परिमलेंदु ने 'देवरानी जेठानी की कहानी' को हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक यथार्थवादी उपन्यास मानते हुए लिखा - "उर्दू में नजीर अहमद ने बालिकाओं के शिक्षार्थ 'मिरातुल उरूस' नामक कहानी पुस्तक की रचना की थी, जिस पर उन्हें सरकार की ओर से एक हजार रुपए का आकर्षक पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था। इस शासनादेश से आकृष्ट होकर मेरठ के उर्दू मदरसे दस्तूर तालीम के अध्यापकद्वय मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय ने 'वामा शिक्षक' अर्थात् दो भाई और चार बहनों की कहानी की रचना की। इसके लेखन में दो वर्षों का समय व्यतीत हुआ।" ध्यान देने की बात है कि १८७२ ई. तक हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता था, हिन्दी में उपन्यास और नावेल शब्दों का सबसे पहला प्रयोग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही किया 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' के प्रथम अंक, अक्तूबर १८७३ ई. के आवरण पृष्ठ पर अंग्रेज़ी का नावेल शब्द रोमन लिपि में प्रयुक्त हुआ था "अक्तूबर, १८७३ नवंबर १ वाल्यूम १, हरिश्चंद्र मैगज़ीन ए मंथली जर्नल पब्लिशड इन कनेक्शन विथ द कविवचनसुधा कंटेनिंग आर्टिकल्स ऑन लिटरेरी, साइंटिफिक, पौलिटिकल एंड रेलिजियस सब्जेक्ट्स ऐन्टिक्विटिज, रिव्यूज़, ड्रामाज़, हिस्ट्री, नावेल्स, पोएटिकल सेलेक्शंस, गौसिप, ह्यूमर एंड विट एडिटेड बाई हरिश्चंद्र" इससे पहले किसी भी हिन्दी पत्रिका अथवा हिन्दी पुस्तक में उपन्यास के अर्थ में नावेल शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। इसके बाद सन् १८७५ ई. में मासिक पत्र 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' फरवरी, १८७५ ई. (खण्ड२, संख्या ५) पृष्ठ संख्या १५२ पर 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किया गया। 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' के इसी अंक में 'मालती' शीर्षक अपूर्ण उपन्यास का आकाशन आरंभ हुआ था। 'मालती' शीर्षक के बाद, दूसरी पंक्ति में कोष्ठक में 'उपन्यास' शब्द छोटे टाइप में अभिलेखबद्ध किया गया था।

हिन्दी उपन्यास का भारतीय नवजागरण से गहरा संबंध रहा। भारतीय नवजागरण में स्त्री-मुक्ति के प्रश्नों को केन्द्रीय महत्त्व मिला। औपनिवेशिक शासन के विरोध की चिन्तन-प्रक्रिया में स्वतंत्रता की आकांक्षा और नए समाज की परिकल्पना का प्रमुख स्थान था। नए जनमाध्यम के रूप में प्रेस के उदय और विस्तार ने तीन प्रमुख मुद्दों को वरीयता दी - राष्ट्र, राष्ट्रीयता और स्त्री से संबंधित प्रश्न। नए राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता का विकास स्त्री के विकास के बिना संपूर्ण नहीं होगा यह बात साहित्यिक एवं समाजसुधारकों के सामने स्पष्ट थी। औपनिवेशिक भारत में प्रेस और प्रौद्योगिकी की सुलभता ने "देशी साहित्य" को पाठकों को सुलभ कराने का मार्ग प्रशस्त किया। जहाँ पहले लोग समूहों में पढ़ते थे, अब

पुस्तकें उनकी व्यक्तिगत संपत्ति बनने लगीं। उपन्यास जैसी विधाएँ इस प्रतिक्रिया की उपज थीं। शीघ्र ही यह अत्यंत लोकप्रिय विधा बन गयी और सन् १८५७ से १८९० ई. के बीच लगभग सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में उपन्यास की रचना की गई। प्यारेचंद कृत प्रथम बंगला उपन्यास 'अलालेर घरेर दुलाल १८५८ ई. में, बंकिमचंद चैटर्जी का 'दुर्गोशनदिनी' और मराठी में बाबा पद्मनजी का उपन्यास 'यमुना पर्यटन' १८५७ में गुजराती में नंदशंकर तिलिया शंकर मेहता के उपन्यास 'करण घेलो' १८६६ में प्रकाशित हुए। दक्षिण भारतीय भाषाओं में उपन्यास काफी बाद में लिखे गए। मलयालम का पहला उपन्यास अप्पु नेदुंगादि कृत 'कुंदलता' १८८७ में, तमिल में सैम्युअल वेदनायकम् पिल्लै का उपन्यास 'पिरातप मतलियार चरित्रम्' १८७९ में प्रकाशित हुआ और तेलुगु में कंदुकूरि वीरेशलिंगम पंतुलु की रचना 'राजशेखर चरित्रम्' १८८० ई. में प्रकाशित हुई।

उन्नीसवीं सदी के दौरान औपनिवेशिक शासन में मुद्रण कला के प्रचार-प्रसार ने शिक्षा और मुद्रित शब्द को जनता तक पहले की अपेक्षा कई गुना तेजी से पहुँचाया। अब साहित्यिक कृतियाँ जनता के लिए सहज सुलभ होने लगीं, इससे न सिर्फ सांस्कृतिक रुचियाँ बदलीं बल्कि एक नये सांस्कृतिक व्यक्तित्व का भी निर्माण होने लगा। मुद्रण की सुविधा से अंग्रेज़ी के साथ-साथ देशी भाषाओं के साहित्य के प्रचार-प्रसार में भी तीव्रता आई। इसी दौर में बहुत-सी भारतीय भाषाओं में पाठ्यपुस्तकें भी लिखी गईं। अब देशी भाषाओं का साहित्य खरीद-बिक्री के माल के रूप में सामने आने लगा। छपी हुई सामग्री पाठकों के नये संसार में प्रविष्ट हुई और जहाँ पहले लोग समूहों में बैठकर पढ़ते थे वहीं अब घर बैठे व्यक्तिगत रूप से पढ़ने लगे। शिक्षित मध्यवर्ग अवकाश के समय घर बैठे पढ़ने लगा और उपन्यास जैसी साहित्यिक विधाएँ अस्तित्व में आईं। शीघ्र ही उपन्यास एक लोकप्रिय साहित्यिक विधा के रूप में केन्द्र में आ गया। उपन्यास के जन्म के पीछे सिर्फ विदेशी प्रेरणा ही नहीं थी, बल्कि भारत के नए उभरते मध्यवर्ग की बौद्धिक आवश्यकताओं का दबाव भी था। भारतीय जनता के सामने एक ओर वर्चस्ववादी औपनिवेशिक संस्कृति थी तो दूसरी ओर भारत की पारंपरिक संस्कृति। जो बुद्धिजीवी समाज सुधार आन्दोलनों से जुड़े हुए थे उनके सामने एक ओर तो अपनी पारंपरिकता को सुरक्षित रखने की चिंता थी, दूसरी ओर पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की नई आहटों को सुनने की इच्छा। पंजाब और बंगाल तथा महाराष्ट्र में नवजागरण की चेतना हिन्दी पट्टी से पहले फैलनी शुरू हो गई थी। बेथून, ईश्वरचंद्र विद्यासागर और ज्योतिबा फुले और आगे चलकर दयानंद सरस्वती के प्रयत्नों से पूरे देश में प्राइमरी और मिडिल स्कूलों की स्थापना हो रही थी। कहीं-कहीं पर स्कूलों का विरोध भी हो रहा था, लेकिन पंजाब में दयानंद सरस्वती के प्रभाव एवं महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले के प्रयत्नों से सर्वजन शिक्षा की दिशा में युगांतकारी कदम बढ़ाए जा रहे थे। उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण का केन्द्र पश्चिमोत्तर प्रांत था जिसका क्षेत्र आगरा, मेरठ, रोहेलखंड, कानपुर, इलाहाबाद, बलिया, गोरखपुर आदि तक फैला हुआ था, जिसमें 1857 के बाद अवध को मिलाकर 'युक्तप्रांत' कहा गया - इस प्रदेश में शिक्षा की, विशेषकर स्त्री शिक्षा की स्थिति दयनीय थी। हंटर कमीशन की रिपोर्ट (पृ.५२७) के हवाले से पता चलता है कि १८७०-७१ में युक्त प्रांत में लड़कियों के कुल ६४० स्कूल थे, जिनमें १३,८५३ लड़कियाँ पढ़ती थीं। १८७५-७६ तक आते आते इनमें २४० स्कूल बंद हो गए और ४०० स्कूल रह गए जिनमें छात्राओं की संख्या घटकर ९००० रह गयी। १८८०-८१ तक आते-आते लड़कियों के लिए सिर्फ १६० स्कूल रह गए जिनमें ३,७५७ लड़कियाँ पढ़ती थीं। ये आंकड़े हिन्दी प्रदेश नवजागरण पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करते हैं इसलिए पश्चिमोत्तर प्रांत में स्त्री शिक्षा के प्रति उपेक्षा के कारणों की पड़ताल करने के लिए समाजवैज्ञानिक दृष्टि को

अपनाना ज़रूरी है। हिन्दी प्रदेश में भी बंगाल, पंजाब के समाजसुधारकों में इस बात पर पूर्ण सहमति थी कि स्त्री शिक्षा के बिना एक स्वस्थ समाज का निर्माण संभव नहीं है। दूसरी ओर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन स्त्री शिक्षा को लागू करने के लिए सख्त तौर-तरीके अपनाने से परहेज़ करता था। स्त्री शिक्षा एक बड़ा ही संवेदनशील मामला था, हिंदू और मुसलमान दोनों ही अपनी धार्मिक आस्थाओं और अस्मिताओं में स्त्रियों को पवित्र मानते थे। औपनिवेशिक शासन से ठीक पहले तक स्त्रियों के संस्कृत तथा लोकभाषाओं में शिक्षा ग्रहण किए जाने पर पाबंदी थी। १८५७ के गदर के बाद वैसे भी औपनिवेशिक सरकार पहले से ज्यादा संवेदनशील और स्वार्थी हो गई थी। हिन्दू-मुसलमानों के संवेदनशील मामलों में तटस्थता का रुख अपनाना उसकी राजनीति का हिस्सा था। स्त्री शिक्षा पर बल देने यह आशंका थी कि हिन्दू-मुसलमान दोनों उसके विरोधी बन जाएँ। पश्चिमोत्तर प्रांत में बाल विवाह भी शिक्षा के मार्ग में बाधक था। हिन्दू धर्म शास्त्रों में लड़कियों के विवाह की न्यूनतम उम्र १२ वर्ष कही गई थी, लेकिन व्यवहार में स्थिति बहुत शोचनीय थी। दूसरी ओर समाज का एक बड़ा भाग अपनी स्त्रियों को पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से बाहर रखना चाहता था। सदियों से चली आ रही पितृसत्तात्मक वर्चस्ववादी मानसिकता का दबाव उन्हें स्त्रियों को शिक्षा के लिए घर से बाहर जाने की अनुमति नहीं देता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इंटर आयोग के प्रश्नों के उत्तर में कहा था - “हमारे यहाँ गृहशिक्षा का चलन है। शरीफ़ घरों के लोग अपनी लड़कियों को पब्लिक - चाहे वे जिस उम्र की हों, स्कूल नहीं भेजना चाहते - चाहे वह स्कूल सरकारी हो या निजी। लड़कियों को पढ़ाने के लिए वे (शरीफ़ लोग) आमतौर पर घर में कोई ट्यूटर रख लेते हैं। यह गृहशिक्षा अक्सर धार्मिक किस्म की होती है और पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से इनका कोई संबंध नहीं होता। धार्मिक किताबों से उन्हें चरित्र संबंधी सिद्धांतों और घरेलू कर्तव्यों के पाठ पढ़ाए जाते हैं। मुसलमान अपनी लड़कियों को कुरआन पढ़ाते हैं।” (रस्साकशी, वीरभारत तलवार) हिन्दी प्रदेश के बौद्धिक परिवार संस्था को बनाए रखने एवं स्त्रियों को अपनी अस्मिता से जोड़कर देखने के पक्षधर थे। स्त्री की दशा में सुधार की चिंता बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र और हिन्दी प्रदेशों के बौद्धिकों और समाजसुधारकों की साझी चिंता थी। भारतीय मध्यवर्ग में राष्ट्रीय चेतना के प्रचार-प्रसार के साथ ही उसमें अपनी संस्कृति और परंपरा के प्रति अतिरिक्त सचेतनता आ गई। अब उसने भौतिक और आध्यात्मिक जगत् का बँटवारा कर दिया और भौतिक संसार को बाहरी दुनिया के अनुकूल बदलने की कोशिश की जबकि आध्यात्मिक गुणों को परिवार के भीतर सुरक्षित बनाए रखने के प्रयास किए गए। परिवार की धुरी स्त्रियाँ थीं। भारतेन्दु सरीखे बौद्धिक स्त्री को शिक्षित करना चाहते थे। भारतेन्दु ने ‘नीलदेवी’ (१८८१) की भूमिका में लिखा था - “जिस भाँति अंग्रेज़ स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर काम-काम संभाती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना सत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की संपत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को गृह-दास्य और कलह ही में नहीं खोती उसी भाँति हमारी गृह-देवता भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है।”

लेकिन, इससे आगे की पंक्तियाँ भारतेन्दु जैसे नवजागरण के दौर के अनेक बौद्धिकों की मानसिकता को प्रतिबिंबित करती हैं - “इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती समूह की भाँति हमारी कुललक्ष्मी गण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमै।” बौद्धिक वर्ग को भारत की गुलामी के भौतिक कारण दिखाई देते थे। यह वर्ग यथासंभव भारतीय आध्यात्मिकता और नैतिकता को पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से अछूता रखना चाहता

था। “इसी प्रकार १९ वीं सदी में स्त्री शिक्षा और उसकी आधुनिकता को भी राष्ट्रीयता और पितृसत्ता के रूप-रंग में ढाल लिया गया। पार्थ चटर्जी के मुताबिक, उन्होंने तीन मकसद एक साथ प्राप्त कर लिये। शिक्षित भारतीय नारी ने अपने को भारतीय मेमसाहबों की तुलना में श्रेष्ठ समझा क्योंकि पश्चिमी मेमसाहब शिक्षा प्राप्त करने के बाद पुरुषों से विभिन्न क्षेत्रों में प्रतियोगिता करती थीं और अपने स्त्रियोचित गुणों को गँवा देती थीं जबकि भारतीय स्त्रियाँ इन गुणों पर कायम रहकर भारत की सांस्कृतिक आध्यात्मिक विशेषता को बनाए रखने में योगदान देती थीं। दूसरे ने शिक्षित स्त्रियाँ अतीत की स्त्रियों से बेहतर थीं जिन्हें अमानवीय सामाजिक परंपराओं के कारण अज्ञानता के अंधकार में नहीं रहना पड़ा। तीसरे, शिक्षा के बल पर उच्च भद्रवर्गीय स्त्रियों को निम्न वर्ग की असंस्कृत स्त्रियों से भी अलगाने की चेष्टा की गई जो भारत के सांस्कृतिक मूल्यों को समझने और अपने व्यक्तित्व के माध्यम से उन्हें व्यक्त करने में लगभग असमर्थ थीं।” (वैभवसिंह, पहल, ८१, पृ.१९५ स्त्री) शिक्षा की माँग बंगाल के नवजागरण का सर्वप्रमुख मुद्दा था, जबकि हिन्दी पट्टी में इस मुद्दे पर बौद्धिकों में परस्पर मतभेद था। लड़कियों को लड़कों के समान शिक्षित किया जाए या नहीं अथवा घरेलू और धार्मिक शिक्षा ही उनके लिए पर्याप्त है, इस पर हिन्दी उर्दू प्रदेश में लंबे समय तक बहस चली। वीरभारत तलवार ने लिखा है - “लड़कियों को सिर्फ धार्मिक और घरेलू प्रबंध की शिक्षा दी जाए था लड़कों की तरह आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भी - यह प्रश्न पूरे भारतीय नवजागरण में मौजूद था, जो हिन्दी-उर्दू प्रदेश में लंबे समय तक चलता रहा। बंगाल में इसे हल करने के क्रांतिकारी प्रयत्न १८६० के दश में शुरू हो चुके थे और १८७० के दशक में स्त्रियों की आधुनिक शिक्षा का आंदोलन भी शुरू हो गया था। बंगाल से द्वारिकानाथ गांगुली ने लड़कियों के लिए आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें भी बनाईं। इसी के समानांतर महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले ने स्त्री शिक्षा का प्रवर्तन किया। उन्होंने ब्राह्मणों के गढ़ पुणे में पहली कन्या पाठशाला खोली जिसमें माँग और महार जाति की लड़कियों को भी शिक्षित किया गया .... उधर पंजाब और हरियाणा में आर्य समाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती स्त्री शिक्षा के घोर समर्थक थे। वे लड़कियों को सामान्य और विशेष दोनों तरह की शिक्षा देना चाहते थे। .... ऐसी उथल-पुथल हिन्दी प्रदेश में दिखाई नहीं दी।” हिन्दी प्रदेश में स्त्री शिक्षा के विषय में द्वंद्व की स्थिति थी जिसे ‘वामा शिक्षक’ के इन दो उद्धरणों में देखा जा सकता है-

1. जो लड़कियाँ पढ़-लिख जाएँगी और बड़ी होकर अपने सासरे जाएँगी तो वहाँ जाकर किसी के बस में नहीं रहेंगी। (पृ.20, वामा शिक्षक - मूल)
2. पढ़ने-लिखने से जी की बुराइयाँ सब निकल जाती हैं। अच्छे-अच्छे विचार जी में आते हैं, बुरे और निकम्मे विचार दूर हो जाते हैं फिर क्योंकि लड़कियाँ पढ़-लिखकर अपने सासरे वाले के बस में नहीं रहेंगी निश्चय वह तन-मन से अपने पुरुष की टहल करेंगी और आज्ञा में रहेंगी और उनको सब रीति से प्रसन्न और मग्न रखेंगी और जो शिक्षा उनके पुरुष बालकों को पालने और चाल-चलन के संवारने में करेंगी उनको जी से सुनेंगी और पल्ले गाँठ बाधेंगी .... अब तो स्त्रियाँ डर भय से आधीन हैं और पढ़-लिख कर जी से आधीन रहेंगी।” (पृ.20, वामा शिक्षक - मूल)

स्त्री-सुधार संबंधी चिंताएँ हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासकारों में प्रायः एक-सी नज़र आती हैं। ये उपन्यासकार एक ओर परम्परा से टकराते दिखाई दिए तो दूसरी ओर नवजागरण की चेतना का उन पर जो प्रभाव पड़ा था, उससे वे समाज को अपने अनुरूप निर्मित करने की इच्छा से भी परिचालित हो रहे थे। हालाँकि जीवन के प्रति जिस परिपक्व यथार्थवादी दृष्टि का परिचय आगे चलकर प्रेमचंद ने दिया

उसका नितांत अभाव इस दौर के उपन्यासों में है। सामाजिक सुधारवाद के उद्देश्य से परिचालित होकर, एक विशेष 'मिशन' के तहत हिन्दी के सभी प्रारंभिक उपन्यास लिखे गए। गौरतलब है कि इनमें एक भी रचनाकार स्त्री नहीं है लेकिन ये चारों ही - पं.गौरीदत्त, ईश्वरीप्रसाद, और कल्याणराय, श्रद्धाराम फिल्लौरी स्त्री की समस्याओं, या स्त्री द्वारा उपजाई समस्याओं को अपनी रचनाओं का केन्द्र बनाते हैं। ये उपन्यासकार परिवार की समस्याओं से सामाजिक समस्याओं को जोड़कर देखते हैं - घर खर्च में बचत, चाकरी से अच्छा निजी व्यवसाय, मर्यादित जीवन स्त्री की पुरुष निर्भरता, संयुक्त परिवार, अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति जैसे 'फंडों' पर विश्वास करते हैं और सामाजिक उन्नति के साथ मनुष्य की चारित्रिक उन्नति की आकांक्षा से परिचालित होते हैं। इन उपन्यासों भी भारतीय स्त्री की सकारात्मक भूमिका का चित्रण किया गया है। स्त्री यदि पढ़ी लिखी है, कम खर्च है, समझदारी से गृहस्थी का बंदोबस्त करती है तो पूरे परिवार और समाज की उन्नति हो सकती है - स्त्री यदि पढ़ी-लिखी है तो वक्त बेवक्त (पति के मर जाने पर) आत्मनिर्भर रूप से सम्मान का जीवन जी सकती है। हस्तकौशल, कुटीर एवं घरेलू उद्योग व्यक्ति को ही नहीं समाज को भी परमुखापेक्षी होने से बचाते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है इन सभी उपन्यासों तथा 'मिरातुल उरुस' (उर्दू) में भी समाज के उच्च मध्यवर्गीय खानदानों की कथा ही कही गई है। कहीं अग्रवाल बनियों का खानदान है (देवरानी जेठानी की कहानी) कहीं ढाई गाँव के जर्मींदार लाला भगवानदास (वामा शिक्षक) कहीं उच्च कुलीन ब्राह्मण परिवार है (भाग्यवती) स्पष्ट है कि बौद्धिक वर्ग की चिंता का केन्द्रीय उच्चकुलीन स्त्रियाँ थीं। उमा चक्रवर्ती ने अपने लेख 'वाटएवर हैप्पंड टू वैदिक दासी' में लिखा है - "स्त्रियों से जुड़े सवाल के संदर्भ में उन्नीसवीं सदी का पूरा ध्यान उच्च जाति की हिन्दू स्त्रियों पर केन्द्रित था, चाहे वह अतीत में उनकी उन्नत दशा को प्रकट करता हो या वर्तमान में उनकी निम्न दशा में सुधार करने की चेतना को।"

ये रचनाकार उस नव शिक्षित वर्ग से आते थे जो समाज को बेहतर बनाने के लिए स्त्रियों की नई भूमिका प्रस्तावित कर रहा था। लेकिन, उनमें वैचारिक अंतर्विरोध भी था, जो इनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ। वे स्त्री शिक्षा के तो पक्षधर थे लेकिन स्त्रियों को खुले में घूमने फिरने की स्वतंत्रता के हिमायती नहीं। 'मिरातुल उरुस' की नायिका असगरी घर पर ही लड़कियों को पढ़ाती है लेकिन बाहर जाकर (ट्यूशन) पढ़ाने के लिए राजी नहीं होती। शिक्षा स्त्रियों को समझदार बनाए ताकि वे परिवार के पुरुषों को समय आने पर उचित सलाह दे सकें, 'वामा शिक्षक' में गंगा जो पढ़ी-लिखी समझदार स्त्री है - पति को नौकरी छोड़ व्यवसाय करने की उचित सलाह देती है, जो बाद में परिवार की संपन्नता का कारण बनती है। पढ़ी-लिखी स्त्री विधवा हो जाने पर भी आत्मनिर्भर रह सकेगी, साथ ही नैतिक मूल्यों की रक्षा भी कर सकेगी, 'वामा शिक्षक' में गंगा की छोटी बहन किशोरी असमय ही विधवा हो जाती है, लेकिन पढ़ी-लिखी और हस्तकला में पारंगत होने के कारण कलाबत्तू की टोपियाँ बना-बनाकर बेचती है और अपने परिवार का बेड़ा पार कर लेती है। स्त्री शिक्षा पर परिवार की उन्नति-अवनति निर्भर करती है। इसे दिखाने के लिए अक्सर दो विपरीत स्वभाव वाले स्त्री चरित्रों की योजना की गई। देवरानी-जेठानी, अक्रबरी-असगरी, गंगा-राधा, किशोरी-पार्वती - ऐसे ही विपरीत युग्म हैं, जिनके माध्यम से शिक्षित और अशिक्षित स्त्री के पारस्परिक विभेद को दर्शाया गया। विभिन्न पात्रों के संवादों से स्त्री-पुरुष के विभेद को भी दर्शाया गया और कहा गया कि पुरुष स्त्री से श्रेष्ठ है और उसकी श्रेष्ठता को अगली पीढ़ी तक पहुँचाने का काम स्त्री को करना चाहिए। स्त्रियों के लिए क्या-क्या करणीय है - इस पर लंबे-लंबे उद्धरण इन उपन्यासों में मिलते हैं -

1. “बड़ी नादानी है अगर बीबी मियाँ को बराबर के दर्जे में समझे। बल्कि इस जमाने में औरतों ने ऐसा खराब दस्तूर इज्जियार किया है कि अदब के बिल्कुल खिलाफ़ है .... ” (पृ.७७, मिरातुल उरुस, लिप्यंतरण, मदनगोपाल, साहित्य अकादमी)
2. “सोचना चाहिए कि मियाँ-बीबी में खुदा ने कितना फ़र्क रखा है। मज़हब की किताबों में लिखा है कि हज़रत आदम बहिश्त में अकेले घबराया करते थे। उनके बहलाने को खुदा ने हज़रत हव्वा को जो सबसे पहली औरत दुनिया में हो गुज़री है पैदा किया। पस औरत का पैदा करना सिर्फ़ मर्द की खुशदिली के वास्ते था। और औरत का फ़र्ज है मर्द को खुश रखना। अफ़सोस है कि दुनिया में किस कदर कम औरतें इस फ़र्ज को अदा करती हैं। मर्दों का दर्जा खुदा ने औरतों पर ज़्यादा किया न सिर्फ़ हुक्म देने से बल्कि मर्दों के जिस्म में ज़्यादा कुव्वत और अक्लों में ज़्यादा रोशनी दी है। दुनिया का बन्दोबस्त मर्दों की ज़ात से होता है। मर्द कमाने वाले और औरतें उनकी कमाई को मौका मानसिब पर खर्च करने वालियों और उसकी निगहबान है।” (पृ.७९, मिरातुल उरुस)
3. बेटा तुमको सोचना चाहिए कि पुरुषों और नारी में क्या संबंध है - पुरुषों का पद भगवान ने स्त्रियों से बड़ा रक्खा है - शास्त्र में लिखा है कि जहाँ तक हो सके स्त्रियाँ अपने पुरुषों की टहल करें और उनके आधीन रहें, उनकी सम्मति के विरुद्ध काम करना अपना जन्म भ्रष्ट करना है। देखो धर्मशास्त्र के 175 वें श्लोक का यह तात्पर्य है कि (मदिरा पान करना - खोटों की संगति - पति से वियोग - इधर-उधर फिरना-कुसमय सोना - दूसरे के घर रहना यह छै बातें स्त्रियों के लिए बुरी हैं। स्त्रियों का बड़ा धर्म वही है कि अपने पुरुष के कहने में चलें किसी बात में उनसे हट न करें - यह भी लिखा है कि जहाँ तक हो सके अपने पुरुष की टहल करें यही स्त्रियों का पूजन और पाठ नित्य नियम है और धर्म है इस्से स्त्रियों को बैकुण्ठ प्राप्त होता है। .... मेल मिलाप रखने के लिए कुछ बातें बहुत आवश्यक हैं - पहले अपने पुरुष का आदर-सम्मान रखना - दूसरे उसको सदा बड़ा समझना यह बड़ी अज्ञानता की बात है कि स्त्री अपने पुरुष को अपने समान जाने-तीसरे अपने पीहर की कोई ऐसी बात जिस्से अपना बड़प्पन जाना जाय पुरुष के सामने न कहे कि वह उसको सुनकर अप्रसन्न हो, बहुत सी मूर्ख स्त्रियों का यही चलन है कि अपने पीहर का बड़प्पन कह कर अपने पुरुषों को उलाहना देती हैं और उनको तुच्छ जानती है।” (वामा शिक्षक, पृ.98 मूल)

इन उपन्यासों को ‘कंडक्ट नॉवेल्स’ की श्रेणी में रखा जा सकता है। इनमें सिर्फ़ स्त्रियों के ‘कंडक्ट’ सुधारने की बात कही गई है। १९ वीं सदी के समाज में पुरुष वर्चस्व एवं लैंगिक विभाजन के कठोर नियमों को देखा जा सकता है। यह विभाजन सिर्फ़ औपनिवेशिक भारत में ही था, ऐसी बात नहीं है। फ्रेवर्ट ने यूरोप के संदर्भ में लिखा था - “बुर्जुआ माहौल होने के बावजूद वहाँ स्त्री पर ही ज़िम्मेदारी थी कि वह मध्यवर्गीय मूल्यों की रक्षा करे और सौंदर्य, प्रेम व वफ़ादारी जैसे समस्त प्राकृतिक गुणों से पुरुषों को आनंद पहुँचाए।” (द पब्लिक द प्राइवेट इश्यूज़ ऑफ़ डेमोक्रेटिक सिटिज़नशिप, सं.गुरप्रीत महाजन, सेज पब्लिकेशन - २००४)

“इसके अलावा इंग्लैंड में भी ‘अनवूमनली’ व्यवहार करने वाली स्त्रियों की कड़ी आलोचना होती थी। वहाँ भी लड़कों को रोजगार के लिए पढ़ाया जाता था जबकि उनकी बहनों को अच्छी गृहिणी, माँ और पत्नी बनने के लिए। यानी जिन अंग्रेज़ औरतों की कथित उच्छृंखलता व जाति स्वतंत्रता के विपरीत

हिन्दुस्तानी औरत का मॉडल निर्मित किया जा रहा था, उसकी स्थिति भी अपने पुरुष समाज में वैसी ही थी जैसी भारत की औरतों की। लेकिन चूँकि उपनिवेशवाद के सामने अपनी संस्कृति के लिए भव्य आत्ममुग्धता खड़ी करनी थी, इसलिए अपने समाज की स्त्रियों को ही नहीं बल्कि अंग्रेज़ औरतों को भी पितृसत्ता की कसौटी पर कसने की कोशिश की गई। पितृसत्ता का यह अंतर्राष्ट्रीय संस्करण था जिसमें अंग्रेज़ और भारतीय स्त्री, दोनों की मुक्ति को मुश्किल बनाने के हर संभव प्रयास होते थे। इसमें उपनिवेशक और उपनिवेशित, दोनों ही एक-दूसरे की संस्कृति के बारे में भ्रामक दृष्टिकोण का प्रचार करते थे जिससे उनके बीच का शक्ति संबंध बदल सके। स्त्रियों के चरित्र व सामाजिक स्थिति के बारे में व्याख्याएँ उपनिवेशक-उपनिवेशित के इन्हीं रिश्तों का शिकार होती रहीं।” (सुधारवाद और उपन्यास, लेख : वैभव सिंह, आलोचना, अप्रैल-जून, २००७, पृ.९९)

यह उद्धरण भारत और यूरोप की परिस्थितियों में स्त्री की तत्कालीन स्थिति को बताने के लिए पर्याप्त है। स्त्रियों को शिक्षित किए जाने की ज़रूरत तो है लेकिन उतना ही जितने में वे स्वच्छंद और उच्छृंखल न हों, घर और परिवार की ज़िम्मेदारी को भली-भाँति निबाहें, पुरुषों से कभी वाद-विवाद न करें। ‘वामा शिक्षक’ में दो भाइयों की पत्नियों का स्वभाव अलग-अलग है। बड़ी बहू कामचोर और अनपढ़ है, छोटी बहू पढ़ी-लिखी। स्त्रियों के लिए आदर्श के रूप में लेखकद्वय ने छोटी बहू को प्रस्तुत किया है “पर छोटी बहू सब काम हँसी-खुसी करती न कभी मित्र भरती और न कभी नाक-भौं सिकोड़ती, छोटी बहू सब तरह का सीना-पिरोती और टोपियाँ और दुपट्टे काढ़ा करती और गोटा किनारी टाँकना और गोखरु मोड़ना जानती थी। चारों लड़कियों के सुत्थन सदा अपने हाथ से सीकर पहनाया करती और तरह-तरह की टोपियाँ इनको पहनाया करती अपने और अपनी सास और जेठानी के सब कपड़े बैठी-बैठी सिया करती। जब कोई काम न हो तो लड़कियों के लिए गुड़ियाँ बनाया करती वह स्त्री निदान कभी खाली नहीं बैठती, कुछ न कुछ करती ....।” (पृ.८, ‘वामा शिक्षक’, मूल)

ये आदर्श स्त्रियाँ हैं जो अपने पुरुषों से कभी बहस नहीं करतीं। सदैव अपने आपको घर के कार्यों में व्यस्त रखती हैं, बाहरी दुनिया से उनका साबका सिर्फ़ नौकर-नौकरानियों और मामाओं के माध्यम से होता है और बहस भी सिर्फ़ उन्हीं से। सारा दिन समाज के कमज़ोर वर्ग से आदान-प्रदान होता है और वो भी रोजमर्रा के छोटे-छोटे मुद्दों पर। ‘वामा शिक्षक’ में गंगा कहारिन से बहस करती है। देश-दुनिया, राजनीति इत्यादि से दूर-दूर तक का उन्हें साबका नहीं है। बाल विवाह का विरोध ज़रूर किया गया है, लेकिन विधवा समस्या से ये उपन्यास नहीं टकराते दिखाई देते जो उस युग की ज्वलंत समस्या थी। ‘देवरानी- जेठानी की कहानी’ तथा ‘वामा शिक्षक’ में विधवाओं के पुनर्विवाह की चर्चा कहीं नहीं दिखाई देती, सिर्फ़ श्रद्धाराम फिल्लौरी, जो आर्य समाजी विचारधारा से प्रभावी थे, द्वारा रचित ‘भाग्यवती’ (१८७७) में विधवा विवाह की पक्षधरता मिलती है। एक दिलचस्प बात यह है कि इन उपन्यासों में कहीं भी स्त्री-पुरुष का वैचारिक संघर्ष चित्रित नहीं हुआ है। स्त्री-स्त्री के आपसी संघर्ष, बहस-मुसाहिबे तो चित्रित हुए हैं जैसे देवरानी-जेठानी, छोटी बहन - बड़ी बहन, सास-बहू की आपसी टकराहटों को कथानक में स्थान दिया गया है जिससे ऐसा लगता है कि समाज और परिवार से सारे कलह की जड़ स्त्रियाँ ही हैं, विशेषकर अनपढ़ और अशिक्षित स्त्रियाँ, जिनके भड़काने की वजह से ही पुरुष गलत निर्णय ले लेते हैं, इन्हीं की दुर्भावना एवं कलहकारी स्वभाव के चलते संयुक्त परिवार टूटकर एकल परिवारों में बदल जाते हैं, पुत्र अपने माता-पिता से दूर हो जाते हैं। बाल विधवा होने पर इन स्त्रियों से अपेक्षा की जाती है कि वे चुपचाप सारी घर-गृहस्थी संभालें। भोजन, वस्त्र के अतिरिक्त भी उनकी

कोई आवश्यकता हो सकती है - इसके बारे में कोई नहीं सोचता। 'वामा शिक्षक' में गंगा की बहन किशोरी बाल विधवा हो जाती है, उसके चरित्र की बड़ी प्रशंसा की गयी है, क्योंकि वह आत्मनिर्भर बनती है। घर में चुपचाप कलाबत्तू की टोपियां बनाती है, पुत्र और विधवा सास का लालन-पालन करती है। संपन्नता आने पर दान-पुण्य करती है, कुएँ और अस्पताल बनवाती है। विधवा ज्ञानो का चरित्र भी अनुकरणीय बताया गया है, क्योंकि वह लिखने-पढ़ने, पूजा-पाठ में अपना जीवन व्यतीत कर रही है। ये स्त्रियाँ परदे में कैद स्त्रियाँ हैं, पास-पड़ोस के आने-जाने के लिए भी इन्हें परदे वाली डोली की आवश्यकता पड़ती है पति के घर से मायके जाने की इच्छा व्यक्त करने पर आलोचना होती है। घर के अनुचर और नौकरानियाँ हमेशा उनके साथ जाती हैं। उन्नीसवीं सदी के बौद्धिक जनों ने बुर्जुआ व्यवस्था की हिमायत तथा सामंती समाज के प्रभुत्वपूर्ण मूल्यों का विरोध तो किया लेकिन प्रचलित आचार-व्यवहारों को बदलने के लिए जो प्रयास किए जा रहे थे, वे अभी प्रारंभिक चरण में ही थे। परदा-प्रथा और उत्तर भारत में विधवा-विवाह जैसे मुद्दे इसी श्रेणी में आते थे। यह भी गौरतलब है कि निम्न जाति की स्त्रियाँ इन बंधनों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं थी। 'वामा शिक्षक' में नौकरानी बाज़ार से सौदा लाती है। 'मिरातुल उरुस' में मामा अज़मत मौलवी मुहम्मद फ़ाजिल के यहाँ काम करती है और बाज़ार-हाट, लोहार-सुनार से सारी खरीदारी का माध्यम पूरे परिवार के लिए वही है। 'मिरातुल उरुस' में हज्जन बी एक धोखेबाज चरित्र है जो अक्रबरी के अज्ञान और मूर्खता का फायदा उठाती है। 'वामा शिक्षक' में मुगलानी एक ठगिनी है जो बाल-विधवा पार्वती के हिस्से में आए ससुराल के धन को सूद पर चलाने का बहाना बनाकर ठग लेती है। पार्वती संयुक्त परिवार में नहीं रहना चाहती लेकिन रुपए ठगे जाने के बाद उसे मन मार कर देवर-जेठ के अधीनस्थ रहने के लिए विवश होना पड़ता है "अब पार्वती बहुत पछताती थी कि आज मुझको किशोरी की तरह कुछ हुनर आता तो देवर जेठों के हाथ की तर्फ़ क्यों देखती।।" (पृ.२२१, वामा शिक्षक - मूल) लेखकद्वय उपन्यास के अंत में 'शिक्षा' शीर्षक अध्याय में लिखते हैं - ".... ऐ लड़कियों तुमको चाहिए कि तुम गंगा और किशोरी का सा चाल-चलन और विद्या गुण सीखो क्योंकि तुमने इस पुस्तक में पढ़ा होगा कि गंगा ने अपनी विद्या और गुण से घर का कैसा अच्छा प्रबंध किया और सासु सुसरे और अपने पति और नातेदारों को प्रसन्न रखा और अपनी बुद्धिमानी से कंगाल से अमीर बन गई - सबसे उसकी बड़ाई और प्रशंसा की - अपनी संतान को उचित रीति से पाला और पढ़ाया और किशोरी उसकी बहन ने विधवा और कंगाल होने पर भी केवल अपने गुण और चतुराई से घर को ऐसा चलाया कि जीते जी अपने नातेदारों किन्तु अपने बाप की भी एक कौड़ी की कनौड़ी नहीं हुई और किसी ने उससे इतनी बात तक भी नहीं कही कि तेरे मुँह में कै दाँत हैं और हजार रुपए लगाकर अपने लड़के का विवाह किया और दो हजार रुपये से उसे दूकान करा दी जिस्से उसकी गिन्ती रईसों और अमीरों में होने लगी और बड़े-बड़े हाकिम उसकी बड़ी प्रतिष्ठा करने लगे इसलिये जो तुम भी गंगा और किशोरी का सा चाल चलन सीखोगी तो वैसे ही तुम्हारा जीवन भी सुख से बीतेगा दुःख तुम्हारे पास को भी नहीं फटकेगा और जो कोई लड़की राधा और पार्वती का चाल चलन और हठ सीखेगी वह सदा दुःख और विपत् में फँसी रहेगी जैसे राधा अपनी मूर्खता से संतान के दुःख में फँसी रही सदा उसका पति उस से क्रुद्ध रहा और संतान के दुःख में अंधा हो गया और पार्वती ने भी कि जिस्का चाल चलन राधा का सा था सारी उमर दुःख में काटी - यद्यपि वह बचपन में विधवा हो गई थी पर सुसरे की जायदाद से हजार रुपये का माल उसको मिला पर उसने उसको अपनी मूर्खता से थोड़े ही दिनों में खो रिवंडों दिया और सारी उमर दुःख भुगता और अपने खोटे वचन से किसी की भली नहीं रही ...."

(पृ.२२४, वामा शिक्षक, मूल)

स्पष्ट है कि स्त्रियों के कर्तव्य नये दौर की शिक्षा के अनुरूप निर्धारित किए गए लेकिन स्त्री-पुरुष समानता की बात कहीं नहीं की गई। स्त्री यदि पढ़ी-लिखी है तो वह परिवार को अच्छे ढंग से, कम खर्च में चला सकती है। उसके जिम्मे इतने काम कर दिए गए ताकि वह क्षण भर भी खाली न बैठे। सभी प्रारंभिक उपन्यासों में स्त्रियों के कर्तव्य तो बार-बार दोहराए गए लेकिन उनके अधिकारों की बात दबी ही रही। 'देवरानी-जिठानी की कहानी' में कामकाजी सुघड़ देवरानी की दिनचर्या बताते हुए कहा गया - "सबरे उठकर बुहारी देती। चौका बासन कर दूध बिलोती। फिर नहा-धो कर भगवान का नाम लेती। रोटी चढ़ाती। .... सबसे पीछे आप रोटी खाती। फिर सीना-पिरोना, मोजे बुनना, फुलकारी काढ़ना, टोपियों पै कलाबत्तू की बेल लगाना आदि में जिस काम को जी चाहता ले बैठती।"

इसी तरह डिप्टी नजीर अहमद के 'मिरातुल उरुस' में कम खर्च में अच्छी गृहस्थी चलाने वाली असगरी ने बीस रुपए की आमदनी में घर की ऐसी व्यवस्था की "हर चीज़ में किफ़ायत और इन्तज़ाम को देखल दिया। घर में जो कुछ असबाब था अजब बदसलीक़गी से साग मूली की तरह पड़ा रहता था। अब हर एक चीज़ ठिकाने लगी। कपड़ों की गठरियाँ हैं तो कपड़े अच्छी तरह तह किये हुए तरतीब से बंधे हैं। अनाज़ पानी की कोठरी में हर एक शै एहतियात से ढकी हुई है। गोया घर एक कल थी जिसके कल-पुर्जे सब दुरुस्त और उस कल की कुंजी असगरी के हाथ में थी। जब कूक दिया कल अपने मामूल से चलने लगी। असगरी ने घर का एहतियाम अपने हाथ में ले लिया कर्ज़ लेना क्रसम हो गया। भूलकर भी दमड़ी-छदाम तक की चीज़ बाज़ार से अधार न आई। असगरी घर का सब हिसाब एक किताब में लिखा करती थी। जब कोई चीज़ हो चुकने पर आई तब वह मंगा ली।"

उपन्यास में यही असगरी जो घर का बेहतर इन्तज़ाम करती है, अपने पति मुहम्मद कामिल को चौसर, शतरंज, गंजीफ़ा जैसे खेलों से टटाकर पढ़ाई लिखाई की ओर उन्मुख करती है, लेकिन इस ढंग से कि उसका पौरुषीय अहं आहत न हो। उपन्यास में एक प्रसंग में मुहम्मद कामिल कहता है कि उसका देर रात तक इंतज़ार न करके घर की औरतें खाना खा लिया करें -

“मुहम्मद कामिल - “अँये, तुम लोग मेरे मुन्तज़िर रहते हो। मैं तो जानता था तुम खाना खा लिया करती होगी।”

असगरी - खुदा रखे, मरदों के होते औरतों का खाना ढूँस बैठना क्या मुनासिब है?”  
(पृ.127, मिरातुल अरुस, नजीर अहमद, अनुवाद - मदनलाल जैन, प्रकाशक, साहित्य अकादेमी, प्र.सं.1958)”

ये उद्धरण यह बताते हैं कि इस दौर के बौद्धिक, स्त्री को इस बात के लिए नए सिरे से तैयार कर रहे थे, कि वह पुरुष की अपेक्षा समझदार होकर भी कभी पति-पिता के अहं को चोट न पहुँचाया, बल्कि पुरुषों को श्रेष्ठ समझे और उनके अधिकारों को बरकरार रखने में उनका सहयोग करे। ये स्थिति हिन्दू और मुस्लिम दोनों समुदायों की थी। 'वामा शिक्षक' और 'मिरातुल उरुस' पुरुष की उच्च स्थिति के पक्षधर है पितृसत्तात्मक व्यवस्था बिना अपने अधिकारों में कमी लाए हुए स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाना चाहती थी। नवजागरण के दौर की सुधार-चेतना का सबसे बड़ा अंतर्विरोध यही था। सामाजिक जीवन में स्त्री के प्रति उपेक्षा का रवैया पितृसत्तात्मक व्यवस्था का ही परिणाम था। सामंतशाही ने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार, अवसर और सुविधाओं से वंचित ही रखा। स्त्रियाँ असमानता का शिकार होती चली गयीं। बुर्जुआ विचारधारा के अस्तित्व में आने और पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान ने स्त्री शिक्षा की

वकालत तो की, लेकिन स्त्री को पुरुषों के समान राजनीतिक, कानूनी एवं सामाजिक अधिकारों से व्यावहारिक तौर पर वंचित ही रखा गया। उल्टे, साहित्य के माध्यम से उस पर नैतिक दबाव डाला गया, उसे पारिवार और गृहस्थी के भीतर कर्तव्य पालन करके सुख प्राप्ति की कुंजी थमा दी गई। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक स्त्री को सामंती दृष्टि से ही देखा जाता रहा, सौन्दर्य उच्चता, प्रकृति, पवित्रता, अच्छाई और आज्ञापालिका के रूप में उसका महिमामंडन किया गया। प्रारंभिक उपन्यासों में दो तरह की स्त्रियाँ हैं एक जो अच्छी है, दूसरी जो बुरी है। बुरी स्त्री कौन है? वह जो अनपढ़ है, परिवार में मेल-मिलाप नहीं रखती, पति की बात नहीं सुनती, कम खर्च में घर नहीं चलाती। उसकी तुलना में कौन-सी स्त्री अच्छी है - वह जो पढ़ी-लिखी है, पर्दे में रहती है, अपनी निजी इच्छाओं को अभिव्यक्त नहीं करती, कम से कम धन में गृहस्थी की अच्छी व्यवस्था कर लेती है कभी बहस नहीं करती विशेषकर पुरुषों से। इस 'अच्छी स्त्री' ने प्रशंसा के लिए पुरुषसत्ता के आगे सिर झुका लिया, सबसे सामंजस्य बिठा लिया वह तमीज़दार बहू है, पुरुष के दृष्टिकोण से जिसने स्वयं को पारिभाषित किया। पुरुष संरक्षण की आवश्यकता को बार-बार अभिव्यक्त करके पुरुष के अहं को तुष्ट किया। परिणाम यह हुआ कि उसे पुरुष संदर्भ के साथ जीने की आदत पड़ गई। पुरुष के ऊपर उसकी निर्भरता ने उसे आश्रित बना दिया। स्त्री का पराश्रित होना पितृसत्तात्मक व्यवस्था के हक में था। स्त्री को शिक्षित और समझदार बनाकर उसे 'सुशिक्षित दासी' बनाने में उन्नीसवीं सदी के नीतिपरक साहित्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आगे चलकर राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्री ने न सिर्फ़ राष्ट्र अस्मिता के लिए संघर्ष किया बल्कि इसे अपनी अस्मिता और स्वतंत्र चेतना से जोड़कर देखा।

गोपाल राय ने 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' में लिखा है - "(वामाशिक्षक) यह कहानी उस समय के अपेक्षाकृत सम्पन्न कायस्थ परिवार का प्रतिनिधित्व करती है। मध्यवर्गीय बनिया समाज जहाँ व्यापार और दूकानदारी से जीविकोपार्जन करता था वहाँ कायस्थ समाज अधिकतर अदालतों और सरकारी दफ्तरों से जुड़ा हुआ था। कायस्थ समाज में छोटे-मोटे जमींदार भी पर्याप्त संख्या में थे, यद्यपि वे खेती प्रायः नहीं करते थे। इस समाज में शिक्षा का काफ़ी प्रचार था और उर्दू फारसी तो उनकी सांस्कृतिक भाषा ही थी। ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद उनमें अंगरेज़ी शिक्षा का विशेष प्रचार हुआ। अंगरेज़ों के प्रति उनकी राजभक्ति भी स्वाभाविक थी। इससे उनके बाल बच्चों को सरकारी नौकरियाँ आसानी से मिल जाती थीं। ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद सरकारी नौकरियों के लिये अंगरेज़ी का महत्त्व बढ़ गया था और कायस्थ समाज ने इस वास्तविकता को समय रहते पहचान लिया था। अब लड़कों को उर्दू-फारसी के स्थान पर अंगरेज़ी शिक्षा दिलाने की तत्परता बढ़ गयी थी। पर स्त्रियों की शिक्षा के प्रति कायस्थ समाज भी उदास ही था। जहाँ तक परंपरागत सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं का प्रश्न है, कायस्थ समाज भी उनसे मुक्त नहीं था। भूत प्रेतों और पीरों की पूजा कायस्थ परिवारों में भी प्रचलित थी। कोई रोग होने पर झाड़ुफूँक में ज़्यादा विश्वास किया जाता था। लोग चेचक का टीका लगवाने से भय खाते थे। शादी-ब्याह में अपव्यय तो कायस्थ समाज का स्वाभाविक रोग था, जिससे अनेक परिवार बर्बाद हो जाते थे। मिथ्या आडंबर और प्रदर्शन का रोग भी अपनी चरम सीमा पर था। बाल विवाह का प्रचलन भी कायस्थ समाज में कम नहीं था, जिसके परिणामस्वरूप अनेक लड़कियाँ असमय ही विधवा हो जाती थीं और उनका पुनर्विवाह नहीं होता था। जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के समय प्रचलित परम्परागत हिन्दू संस्कार कायस्थ समाज में भी उसी प्रकार प्रचलित थे जैसे बनिया समाज में।" वामा शिक्षक में ढाई गाँव के मालिक लाला भगवानदास के परिवार की कथा है "लाला भगवान दास मेरठ में रहते थे ढाई

गाँव उनके पास थे उन्होंने अपनी चतुराई से उनका काम अपने हाथ में कर रक्खा था इस्लिये उन गाँवों से उनको दो ढाई सौ रुपये महीना मिल रहता था ....।” औपनिवेशिक भारत में निजी व्यवसाय और व्यापार में बनिया और कायस्थ जाति बड़े पैमाने पर संलग्न थी। सदियों से कायस्थ जाति पढ़ने-लिखने, हिसाब किताब करने में कुशल मानी जाती थी। अधिकतर कायस्थ उर्दू, फारसी जानते थे और राज्य कर्मचारियों की नौकरी करते थे। अंग्रेजों के आने के बाद जिस वर्ग ने सबसे पहले अंगरेजी शिक्षा ग्रहण करने में दिलचस्पी दिखाई, वह कायस्थ वर्ग था। कानूनी दौंव-पेंच समझने की क्षमता, तीक्ष्ण मेधा वाला यह नवोदित मध्यम वर्ग लंबे समय से शासनाध्यक्षों का सलाहकार रहा चला आता था। शिक्षा को जीवन-यापन के सर्वोत्कृष्ट माध्यम के रूप में पहचानने वाला वर्ग अपने आपको ‘क्षत्रिय वर्ण’ के अंतर्गत मानता था। ‘वामा शिक्षक’ के प्रथम संस्करण (मूल) के मुखपृष्ठ पर लिखा गया - “वामा शिक्षक अर्थात् दो भाई और चार बहनों की कहानी जिस्को मुन्शी ईश्वरी प्रसाद मुदर्रिस और मुंशी कल्याणराम मुदर्रिस आठवल उर्दू मदरसे तालीम मेरठ जाति कायस्थ क्षत्रिय वर्ण ने सन् १८७२ में बनाई।”

‘वामा शिक्षक’ वह एकमात्र पुस्तक है जो मुंशी ईश्वरी प्रसाद और कल्याण राय के नाम से मिलती है।

‘वामा शिक्षक’ के लेखकद्वय के समक्ष प्रेरणा के तौर पर मिरातुल उरुस (स्त्री दर्पण या Mirror of a bride) थी जिसकी तर्ज पर उन्होंने अपनी रचना को ‘वामा शिक्षक’ (पत्नी शिक्षक) कहा। गोपाल राय ने इसे ‘देवरानी जेठानी की कहानी’ की अनुकृति माना, या अधिक से अधिक उसका पल्लवन। लेकिन ‘वामा शिक्षक’ पर मिरातुल उरुस का प्रभाव ज्यादा दिखाई देता है। ‘देवरानी-जेठानी की कहानी’ और ‘वामा शिक्षक’ के कथ्य में एक हद तक समानता है, लेकिन जहाँ ‘देवरानी जेठानी की कहानी’ में कथा का स्तर इकहरा है वहीं ‘वामा शिक्षक’ की कथा बहुस्तरीय है, इसमें कई कथाएँ एक दूसरे से संबद्ध हैं और लेखकद्वय ने चरित्रों के विविध रंग उभारने का प्रयास किया है। इसका कलेवर भी ‘देवरानी जेठानी की कहानी’ की अपेक्षा बहुत बड़ा है। हिन्दी उपन्यास के इस अति आरंभिक काल में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से पात्रों के चरित्र-चित्रण का प्रयास इसे ‘देवरानी जेठानी की कहानी’ से कहीं आगे की रचना बनाता है। कई कथाओं के संगुफन और चौबीस-पच्चीस पात्रों के साथ कथा के ढाँचे को खड़ा करना, जबकि आदर्श के तौर पर इसके सामने एक-दो उपन्यास ही थे, इसे विशिष्ट बनाता है। पात्रों की आपसी बातचीत, स्त्री पात्रों का मनोविज्ञान - विशेष कर अनपढ़ स्त्री का विश्लेषण इस उपन्यास में बखूबी किया गया है। कथा शिल्प में नूतन पद्धति का प्रारंभ हमें ‘वामा शिक्षक’ से ही मिलता है। एक ही परिवार - लाला भगवानदास उनके दो पुत्रों - मथुरादास और जमुनादास उनकी दो बहुओं तथा आगे चलकर दोनों बेटों की दो-दो पुत्रियों और उनके वैवाहिक जीवन का वर्णन कथा को त्रिस्तरीय तो बनाता है। लेकिन कथा को परिच्छेदों में न बाँटने का अभाव खटकता है, जैसाकि आगे चलकर १८८२ ई. में ‘परीक्षा गुरु’ में किया गया। ‘वामा शिक्षक’ में किसी एक पात्र की पूरी कथा एक-एक अध्याय जैसे ‘गंगा का हाल’, ‘राधा का हाल’, ‘किशोरी का हाल’, ‘पार्वती का हाल’ तथा ‘शिक्षा’ के अंतर्गत विभक्त है। एक पात्र की जीवन कथा, चारित्रिक विशेषताएँ एक बार शुरू करने पर लेखक उसे समाप्त करके ही दूसरी कथा शुरू करता है। चरित्रों का सजीव रूप में प्रस्तुतीकरण ‘वामा शिक्षक’ का वैशिष्ट्य है। बाल विधवा राधा तथा ठगिनी मुगलानी के चरित्र में लेखकद्वय की सूक्ष्म निरीक्षण तथा विश्लेषण शक्ति का परिचय मिलता है। प्रेमचंद पूर्व के हिन्दी उपन्यासों पर विचार करते हुए ज्ञानचंद जैन ने इसकी किस्सागोई की प्रशंसा की है। “वामा शिक्षक में लेखकद्वय ने अपने जमाने की किस्सागोई के फन में अपनी महारत का

अच्छा परिचय दिया है। 'मिरातुल उरुस' की भाँति उन्होंने भी अपनी पुस्तक में किस्से को नया लिबास, नया रूप-रंग प्रदान किया है। उसको जिन्दगी के बिल्कुल करीब ला दिया है, उसमें प्रतिदिन के जीवन के हू-ब-हू चित्र अंकित किये हैं। प्रतिदिन के जीवन में घटनेवाली घटनाओं से कथावस्तु का गठन किया है। किस्से की शैली में उन्होंने पहले लाला भगवानदास, फिर उनके दो बेटों और फिर उन बेटों की चार बेटियों का किस्सा एक ही लड़ी में गूँथ दिया है। सारी कथा एक परिवार से संबद्ध होने के कारण उसमें आंतरिक सूत्रबद्धता बनी रहती है और पहले पृष्ठ से ही पाठक का मन बाँध लेती है। उसका फलक बड़ा होने से उसमें तत्कालीन समाज का चित्र प्रतिबिंबित होने लगता है।”

‘वामा शिक्षक’ की भाषा दैनंदिन की बोलचाल की भाषा है। मुंशी ईश्वरी प्रसाद और कल्याणराय मुर्दरिस थे और उनके सामने ‘मिरातुल उरुस’ और ‘देवरानी जेठानी की कहानी’ जैसे उपन्यास था, इसलिए कथा कहने के ढंग में प्रवाहमयता, कहावतों, मुहावरों का प्रयोग इसे परिपक्व गद्य की ओर अग्रसर उपन्यास के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ‘देवरानी जेठानी की कहानी’ की अपेक्षा ‘वामा शिक्षक’ की भाषा अधिक विकसित है। इसका कारण यह हो सकता है कि लेखकद्वय का उर्दू और नागरी पर समानाधिकार था। उन्नीसवीं सदी में सरकारी कामकाज की भाषा उर्दू और लिपि फ़ारसी थी। अदालतों और कार्यालयों में नौकरी चाहने वाले सभी हिन्दू और मुसलमाल इसे सीखते थे। कायस्थ और पंजाब के आर्यसमाजी धार्मिक लेखन में इसी लिपि का प्रयोग करते थे। युक्तप्रान्त में सिर्फ़ कायस्थ और कश्मीरी ब्राह्मण ही उर्दू को बचपन से सीखते थे, क्योंकि ये पुश्त-दर-पुश्त सरकारी नौकरियाँ ही करते चले आ रहे थे। वीरभारत तलवार के अनुसार शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने सार्वजनिक शिक्षा में हिन्दी और नागरी लिपि को जगह दिलाई थी। 1868 ई. में राजा शिवप्रसाद ने युक्तप्रान्त की सरकार को एक मेमोरेण्डम ‘मेमोरेण्डम : कोर्ट कैरेक्टर इन द अपर प्राविसेस ऑफ़ इंडिया’ इसमें पहली बार अदालतों में फारसी की जगह नागरी लिपि लागू करने की माँग की गई। इसके फायदे गिनाते हुए उन्होंने कहा - “जनता को अदालती कार्यवाही समझ में आ सकेगी, शिक्षा पूरी करने में कम समय लगेगा, देशी भाषाओं का विकास होगा और हिंदू जातीयता की भावना फिर से कायम हो जाएगी।” यह नागरी लिपि को सार्वजनिक तौर पर अपनाए जाने की दिशा में यह बड़ा कदम था। हिन्दी उपन्यास का आरंभ करने वाले पं.गौरीदत्त ने नागरी का प्रचार करने के लिए बोलचाल की भाषा में देवरानी जेठानी की कहानी लिखी, जिनके नागरी प्रेम की चर्चा आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में की। ‘वामा शिक्षक’ में नागरी की व्यावहारिक शैली खड़ीबोली जिसमें तद्भव शब्दों की प्रधानता के साथ-साथ संस्कृत-अरबी के शब्द भी मिलते हैं - का प्रयोग किया गया। इसकी खड़ी बोली में तद्भव शब्दों के साथ क्षेत्रीय बोलियों के शब्द भी मिलते हैं। बोलचाल की खड़ीबोली की उच्चारण प्रकृति के अनुरूप लिखित शब्द मिलते हैं जैसे इस्से, कर्ते, उत्रे, सक्ता आदि शब्द। विराम चिन्हों का अभाव यह बताता है कि इसके रचनाकार अंग्रेज़ी ढंग की ‘नॉविल’ लेखन पद्धति से अपरिचित थे। खड़ी पाई की जगह (-) का प्रयोग किया गया है। शब्द के दोहराव के लिए (२) का प्रयोग और अनुस्वार की जगह चंद्रबिन्दु का प्रयोग किया गया है। ‘वामा शिक्षक’ भी भाषा को १९ वीं सदी की हिन्दी भाषा का स्वरूप बताने के लिए देखा जाना चाहिए। सीधी-सादी भाषा में अभिव्यक्ति के कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं -

1. “आजकल के समय ही पर पत्थर पड़े हैं अब किस्का भरोसा किया जाय और सच है कि पैसे के सब वैरी होते हैं और एक यह भी बात है कि सदा आदमी की नीति एक सी नहीं रहती - पल भर में आदमी की नीति बिगड़ जाती है।” (पृ.१७१)

2. जो चीज़ बाज़ार से कोई नौकर लावे उसको मकान पर तुलवालिया, जो-2 नाज़ बाज़ार से उस दिन आया था सब फटकवा कर मटकों में रख दिया और पिसनहारी को बुलवाकर अपने सामने दाल दलवाई और फटकवा कर मटके में भरवा रक्खी सब तरह के मसाले की जुदी-2 थैलियाँ गंगा ने अपने हाथ से सी लीं किसी थैली में हलदी और किसी में मिर्च और किसी में धनियाँ भर दिया और उन थैलियों पर ऐसी निशानियाँ कर दीं जिस्से जल्दी पहचानी जावे कि इस्में कौनसी चीज़ है जैसे हलदी की थैली को पीला रंग दिया और मिर्चों की थैली को लाल और नौकरों से कह दिया कि इन थैलियों को पहचान लो जो चीज़ चाहिये उसी वक्त ले लो ढुँड़ते न रहो।
3. नौकरी की क्या जड़ है आज है और कल नहीं और कहावत है कि नौकरी की जड़ सवा हाथ ऊँची होती है जो रुपया अपने पास होगा वही काम आवेगा तुमने यह कहावत नहीं सुनी कि बेटा और खोया पैसा समय पर काम आता है।।
4. नौकरी का यह हाल है कि उसका रहना और न रहना हाकिम की जीभ पर है जब हाकिम ने कह दिया नौकर हो गये जब उसने दूर कर दिया दूर हो गये जब तक नौकरी रही तब तक वह थोड़े से लोग जिनका कुछ काम पड़ता है या वह लोग जो यह समझते हैं कि कभी हमारा काम न पड़ जाय इज्जत करते रहे आप अच्छा खाते पीते रहे एक दो सवारी भी रही दस आदमी भी आकर चापलूसी करने लगे जब नौकरी जाती रही सब इज्जत खाक में मिल गई। कोई यह भी नहीं पूछता कि तुम कौन हो ....

जन संपृक्ति और प्रवाहमयता के लिए 'वामा शिक्षक' के उपर्युक्त उद्धरण पर्याप्त हैं। मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रचुर प्रयोग भाषा की व्यंजनात्मकता में वृद्धि करता है। किस्सागोई का मसाला उपन्यास की पठनीयता में वृद्धि करता है, पाठक एक बार पढ़ना शुरू करने पर उपन्यास को बीच में छोड़ता नहीं। 'रोटियाँ मारी-२ फिरती हैं', नौकरों के पौ बारह जाते रहे, नौकरियाँ कहीं मोल तो बिकती नहीं, कायथ का लड़का पढ़ा अच्छा व मरा अच्छा' उत्तम खेती मध्यम बनज, निकृष्ट चाकरी, भीक निदान, सच का बेड़ा पार है, अब पछताए होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत, आदमी मोम से जियादह नर्म और पत्थर से जियादह सख्त है - जैसे प्रयोग लोक-जीवन की बोली-बानी की झलक प्रस्तुत करते हैं। कायस्थों में प्रचलित जन्म-विवाह, मरण आदि लोकाचार विस्तृत रूप उपन्यास में चित्रित किए गए हैं। लड़की के विवाह के लिए जेवरों का आयोजन देखिए - पाँव के गहनों में पायज़ेब, - अंजीर - अँगूठड़े - और हाथों और बाहों के गहनों में नौगरी, कंकनी, छन, पछेली, बाजूबंद, जौशन, नौनगे, आर्सी, छल्ले, पोरवे और गले के गहनों में पचलड़ा - सतलड़ा - चंपाकली - चंदनहार - मोहनमाला - और कानों और सिर और नाक के गहनों में - बालियाँ - वाले - पत्ते - झूमके - करनफूल - नथ - भोगली, झूमर - वन्दी वेन।''

भाषा की दृष्टि से 'वामा शिक्षक' उन्नीसवीं सदी की हिन्दी भाषा के जनस्वरूप का बोध कराने वाला उपन्यास है - वनड़ा (पति) भनेली (अंतरंग सहेली) टहलवी, टका पिसनहारी, तंबोलन, मिश्रानी (भोजन बनानेवाली) पचगिटड़े, सासरे, कलाबत्तू, वफारा, दशूठन, पंहुँची (हाथ में पहना जानेवाला एक आभूषण) चर्खा-पूनी, बगड़-पड़ोसन गौनिहाई (गौने के बाद आई बहू) जैसे शब्द वर्तमान हिन्दी से लुप्त-से हो गए हैं। इन्हें यदि आज भी मानक हिन्दी में प्रयुक्त किया जाए तो हिन्दी का शब्द भण्डार समृद्ध ही होगा।

'वामा शिक्षक' लीथो मुद्रण में छपा हुआ है। इसमें विराम-अर्द्धविराम आदि चिन्हों का प्रयोग नहीं मिलता। हस्तलिखित पोथियों की शैली में पूर्ण विराम की जगह 'डैश' का चिन्ह लगाकर काम चलाया

गया है। यह वह समय था जब छपे शब्द का प्रचार-प्रसार गति पकड़ रहा था, जनता को हस्तलिखित पोथियाँ पढ़ने का ही अभ्यास था। मुद्रणयंत्र आने के बाद भी पुस्तकें हस्तलिखित पोथियों की शैली में ही छपती रहीं। देवरानी जेठानी की कहानी, भाग्यवती भी इसी तर्ज़ पर छपी थीं।

‘वामा शिक्षक’ में हमें संयुक्त वर्णों की भी विशिष्ट स्थिति दिखाई देती है जैसे स्वरों के संयुक्त रूपों में ‘ए’ और ‘ऐ’ वर्ण के वैकल्पिक रूप ‘अ’ वर्ण में ‘ए’ और ‘ऐ’ के मात्रिक चिन्ह (े) और (ो) लगाकर बनाए गए हैं उदाहरणार्थ अे औ अै। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध तक ‘ए’ और ‘ऐ’ के द्विविध रूप प्रचलित थे, अर्थात् एक स्थान पर ‘ए’ और ‘ऐ’ हैं तो दूसरे स्थान पर ‘अे’ और ‘अै’। इस काल की मुद्रित रचनाओं में यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। अे का प्रयोग केवल तद्भव शब्दों में शब्द के अंत में तथा ‘अै’ तद्भव शब्दों के शब्द के आदि भाग में प्रयुक्त किया गया है उदाहरणार्थ -

अे - हुआे

अै - अैसा, अैसे

पूरे उपन्यास में आनुनासिकता के लिए (ं) की जगह ँ चंद्रबिन्दु का प्रयोग मिलता है। जिन वर्णों पर ‘ै’ जैसी मात्राएँ हैं वहाँ भी चंद्रबिन्दु का व्यापक प्रयोग मिलता है देवनागरी लिपि के वर्णों का स्वरूप तब तक सुस्थिर नहीं हुआ था अतः ‘वामा शिक्षक’ में भी आधुनिक देवनागरी लिपि की तुलना में प्रचलित नागरी वर्ण कुछ भिन्न प्रकार से लिखे हुए मिलते हैं। दूसरी बात है कि लेखकद्वय की हस्तलिपि एवं मुद्रण में यह भिन्नता समान रूप से व्याप्त है। कुछ वर्ण देवनागरी लिपि के प्राचीन स्वरूप के अवशेष हैं तो कुछ बंगला आदि लिपियों से प्रभावित हैं। ये वर्ण स्वर और व्यंजन दोनों प्रकार के हैं। अनुनासिक ध्वनियों के चिन्ह तथा स्वरों की मात्राएँ भी इसमें सम्मिलित हैं। संख्याओं तथा रोमन लिपि से प्रभावित विराम चिन्हों का अंकन भी वैविध्यपूर्ण है। अ की जगह ‘अ’ जैसे अब, अच्छी, तबीअत, अच्छा, व के स्थान पर व जैसे - वोही, वोलावते। ये वर्ण रूपांतर मध्यकालीन देवनागरी लिपि के अवशेष हैं जो किसी न किसी प्रकार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक प्रचलित रहे। वर्तमान देवनागरी से ये रूपांतर समाप्त हो चुके हैं केवल फ़ का प्रयोग उच्चारण की शुद्धता बनाए रखने की दृष्टि से अरबी, फ़ारसी जैसे विदेशी शब्दों तक सीमित है। मैं, बहनों और मात्राएँ और कई जगह मैं की जगह में का भी प्रयोग मिलता है। इसके साथ ही अर्धचंद्र (ँ) का भी प्रयोग किया गया है।

‘वामा शिक्षक’ की भाषा और लिपि को आधुनिक हिन्दी के मानक व्याकरण की कसौटी पर खारिज़ किया जा सकता है, लेकिन गौरतलब है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में नागरी लिपि अपना स्वरूप सुस्थिर करने के प्रयास में थी। उच्चरित भाषा और लिखित भाषा एक-सी होती चाहिए यह बीज मंत्र लेखकों को प्रेरणा दे रहा था, साथ ही व्याकरण संबंधी अशुद्धियों तथा शिल्प की अपेक्षा कथानक पर उपन्यासकारों का ध्यान ज़्यादा था। वाक्य रचना, विभक्तियों का प्रयोग, कर्मवाच्य, कर्तृवाच्य, क्रिया रूपों आदि में व्याकरण की अशुद्धियाँ भरी पड़ी थीं। यह संक्रमण का काल था जब अंगरेज़ी वाक्य रचना के प्रभाव के साथ-साथ फ़ारसी वाक्य-रचना के प्रभाव के साथ-साथ फ़ारसी वाक्य-रचना पद्धति को भी अपनाया जा रहा था। आगे चलकर १८८२ ई. में उपन्यास के क्षेत्र में पहली बार लाला श्रीनिवासदास ने विराम चिन्हों, कोलन, सेमी कोलन, इन्वर्टेड कॉमा आदि का प्रयोग ‘परीक्षा गुरु’ में किया था।

‘वामा शिक्षक’ का प्रथम संस्करण १८८३ ई. में छपा था, जबकि इस पुस्तक का लेखन १८७२ ई. में हो चुका था। पुस्तक को छपने में ग्यारह वर्ष का समय लग गया ऐसा हो सकता है कि मेरठ में कल्याण राय ने जब विद्यादर्पण छापखाना खोला तब इसका प्रकाशन संभव हुआ हो। ज्ञानचंद जैन ने

इसके रचनाकारों के रूप में दो लेखकों का नाम दिए जाने पर कुछ शंका व्यक्त की है “इस पुस्तक की रचना में खाकपाय कल्याणराय का कितना हाथ था? क्या मुंशी ईश्वरीप्रसाद जिस मदरसे में मुदर्रिस रियाजी थे उसी में उनके मुदर्रिस अव्वल होने और उनके छापखाने में पुस्तक छपने के कारण उनका भी नाम पुस्तक के लेखक के रूप में दे दिया गया? इन प्रश्नों का उत्तर देना अब कठिन है। मुंशी ईश्वरीप्रसाद अथवा मुंशी कल्याणराय के नाम से लिखी और किसी पुस्तक की कोई सूचना नहीं मिलती।” (प्रेमचंद पूर्व हिन्दी उपन्यास, पृ.३७)

संभव है कि ज्ञानचंद जैन का कथन सत्य हो, क्योंकि एक ही परिवार की कहानी को सिलसिलेवार ढंग से ‘अथ कथा प्रारंभ’ से अलमिति’ तक पहुँचाने के लिए लेखकीय एकाग्रता अपेक्षित होती है वह दो लेखकों के संयुक्त लेखन में एक सीमा के बाद संभव नहीं है। यह भी हो सकता है कि मुंशी ईश्वरी प्रसाद जिस मदरसे में रियाजी थे उसी में कल्याण राय मुदर्रिस अव्वल थे। स्वयं से वरिष्ठ होने के कारण और विद्यादर्पण छापखाना खोलकर पुस्तक के मुद्रण हेतु आभार जताने के लिए मुंशी ईश्वरी प्रसाद के साथ-साथ मुंशी कल्याणराय का नाम भी ‘लेखक’ के रूप में दे दिया गया हो। दोनों अध्यापक बंधु - मेरठ के मदरसे दस्तूर तालीम से संबद्ध थे, मुंशी ईश्वरीप्रसाद मुदर्रिस गणित के अध्यापक थे और मुंशी कल्याणराय प्रधानाध्यापक।

आज से लगभग 141 वर्ष पूर्व लिखे उपन्यास को प्रकाश में लाने की प्रेरणा के बीज स्त्री साहित्य सम्बन्धी अध्ययन में हैं। मेरी देखी-अनदेखी पूर्वजाएँ, विशेषकर नानी अहिल्या और उन जैसी मेरी तीन पितामहियों, जिन्होंने सामंती परिवार व्यवस्था के भीतर परतंत्रता और परदे की यातनाएँ झेलीं, जान ही नहीं पाई कि ज्ञान का संस्कार क्या होता है, कैसे वह आत्मा को मुक्त कर देता है, जिन्होंने अपनी पूरी जिन्दगी रसोईघर के अँधेरे कोनों में गुजार दी, ताकि अपने पुरुषों को सुखी-संतुष्ट रख सकें और चुपचाप मूक रुदन में चौरंगी (घुटने मुड़ जाने की बीमारी) जैसे रोगों के साथ इस दुनिया से विदा ली। स्त्री-मुक्ति का कोई सपना उनके पास था या नहीं, मैं नहीं जानती, फिर भी इतना तय है कि उन जैसियों की यातना की नींव पर ही आज स्त्री समानता की इमारत खड़ी है। ‘वामा शिक्षक’ की हस्तलिखित प्रतिलिपि करनी पड़ी, जिसमें डॉ. साईनाथ चपले का अमूल्य सहयोग मिला। कायस्थ कुलोद्भव लेखकद्वय और नानी अहिल्या की टेढ़ी-मेढ़ी कैथी लिपि के मिश्रित रसायन ने मुझे इस पुस्तक के पुनर्प्रस्तुतीकरण की ओर प्रवृत्त किया।

- गरिमा श्रीवास्तव